# प्रेमचन्द के साहित्य में यथार्थ और महत्तम यथार्थ का द्वन्द्व

डॉ नीरज कुमार मिश्र

सहायक प्राध्यापक

हिन्दी विभाग, रामदयालु सिंह महाविद्यालय,

बी आर ए बिहार विश्वविद्यालय

बात जब प्रेमचन्द के साहित्य के विश्लेषण और विवेचन की होती है तो कुछ बातों को लेकर विद्वानों में बहस शुरू हो जाती है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे, प्रेमचन्द यथार्थवादी थे, प्रेमचन्द के साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रवृति थी। ज्यादातर विद्वानो ने उनकी रचनाओं में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की पुष्टि की है। वैसी रचना जिसमें बिना किसी लाग–लपेट के समाज में चल रहे किया–कलापों का वास्तविक वर्णन तो हो पर समस्या के समाधान के लिए एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना की गयी हो जिसमें मानवीय संवेदनाओं से सिंचित होने वाली अंतःकरण की उदारता को आधार बनाकर हृदय–परिवर्तन की नाटकीय योजना की गयी हो। प्रेमचन्द का जन्म उस काल में हुआ था जब जातीय वैमनस्य, हिन्दू–मुस्लिम कट्टरता से उत्पन्न घृणा को सरकारी संरक्षण प्राप्त था। गरीबी, भूखमरी और कुप्रथाओं से निबटने की कोई सरकारी नीति अमल में न थी। हमें आभारी होना चाहिए उस सूफी संस्कृति का जिसने हिन्दुओं और हिन्दू रीति–रिवाजों से ही प्रेम नहीं किया बल्कि भक्तों से गलबहियां भी की और समाज को समरसता प्रदान की। शकों, हुणो एवं अन्य विदेशी संस्कृति को स्वयं में आत्मसात करने वाली सनातन संस्कृति इस्लाम के रंग–रूप और सांस्कृतिक तेवरों को देखकर दशवीं सदी के पूवार्द्ध से ही अवाक थी। सनातन संस्कृति में किसी एक देव की ही पूजा की अनिवार्यता न थी जबकि इस्लाम में किसी दूसरे की पूजा न सिर्फ अपराध था, बल्कि अपराधी को दण्ड देना भी धर्म के अन्तर्गत ही था। इस सांस्कृतिक विषमता से उपजी घृणा को तब सूफियों और भक्तों के हृदय से निकली प्रेम सलिला ने बहाकर बहुत दूर कर दिया था। रहीम और रसखान यदि कृष्ण भक्ति में लीन थे तो हिन्दू श्रद्धा पूर्वक सूफियों की मजार पर चादर चढा रहे थे। घृणा से भरा कटु यथार्थ अंतर की दिव्य प्रभा से आच्छादित हो गया था। समाज का तत्कालीन यथार्थ तब

एक विराट यथार्थ के रूप में प्रकट हो रहा था। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीतियों ने इस आदर्श स्थिति को लंबे समय तक बनाये रखा। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी प्रसार में यही हिन्दू–मुस्लिम गठजोड़ बाधक बना था जिसे तोड़ना बहुत जरूरी था।

अब कुछ बातें साहित्य के अस्तित्व और विकास के बारे में भी हो जाय। साहित्य का विकास भी समाज सापेक्ष होता है। सामाजिक परिवर्तन साहित्य को प्रेरित और प्रभावित करते हैं। आ0 शुक्ल के अनुसार ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। आदि से अंत तक उन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य–परंपरा के साथ उसका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।''[1]

यह सत्य है कि सामाजिक परिवर्तन जनता की चित्तवृत्तियों में परिवर्तन से प्रभावित होता है, और चूकि साहित्यकार उसी समाज में पला बढा होता है अतः उसके 'वास्तविक आभ्यंतर' पर सामाजिक परिवर्तनों की छाप पड़ना अवश्यंभावी है। साथ ही यह भी संभव है कि इस स्तर पर रचित साहित्य सामाजिक परिवर्तनों को भी इस तरह से प्रभावित करेंगे कि समाज एक आदर्श स्थिति की ओर बढे। डॉ मैनेजर पांडेय लिखते हैं– ''साहित्य समाज का केवल प्रतिबिम्ब ही नहीं होता, वह रचना भी है, इसलिए उसमें नया भी होता है। साहित्य के इतिहास के परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं तो कई बार प्रभावित भी करते हैं।''[2]

किसी भी लेखक अथवा कवि का एक ''वास्तविक आभ्यंतर'' होता है। जो वाह्य संसार से आने वाली अनुभूतियों, प्रभावों, स्थितियों और संबंधों से निर्मित होता रहता है। विगत के अनुभव भी इसमें शामिल होते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं– ''बाल्यकाल से ही मनुष्य बाह्य संसार का अनवरत आभ्यंतरीकरण करता रहा है। और इस प्रकार वह उस आभ्यंतरीकृत बाह्य को उन विशेषताओं से समन्वित और सम्पादित करता रहा है, जो उसके ''स्व'' की विशेषताएं हैं।''[3] अतः यह सिद्ध है कि साहित्यकार समाज से प्रभावित होता है, नया जोड़ता भी है। उस ओर इशारा करता है, जो अभीष्ट है। कवितावली में तुलसीदास ने जीवन के कटू यथार्थ का चित्रण किया है। पर वहीं राम से सभी समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है। राम का जीवन, उनका 'एक्शन' तुलसीदास की नजर में वह यथार्थ है, जिसमें सारा लोकमंगल छुपा है। यह बात भी यहां ध्यान देने वाली है कि तुलसीदास के समय में

ईश्वर ही एक मात्र सहारा था। न दवाएं थीं, न विज्ञान था, न वैज्ञानिक व्यवस्था ही थी। सारा यथार्थ, सारा विकास, सम्पूर्ण आदर्श ईश्वर पर जाकर टिक जाता था। उसी प्रकार कबीरदास जी की समझ में भी उनके द्वारा बताई गयी राह से उस 'विराट यथार्थ' की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है, जो कतई कल्पना नहीं है।

कबीर और तुलसी के तीन–चार सौ वर्ष बाद प्रेमचन्द का आविर्भाव होता है। समाज छुआछूत, स्त्री–दुर्दशा जैसी बीमारियों से खैर हमेशा से ग्रस्त था ही, अकबर के समय से चला आ रहा साम्प्रदायिक सामंजस्य भी अंग्रेजी काल में खत्म होने की ओर अग्रसर हो गया था। यद्यपि भारतेन्दु और उनकी मंडली के लोगों ने 'राधा के आंचल में दुबके साहित्य' की संगति राजनीति से बिठाने की कोशिश की थी, पर जनमानस की जड़ता को खत्म करने के लिए जिस डॉक्टर की जरूरत थी वह कुछ काल के बाद आया। डॉ रामबिलास शर्मा लिखते हैं– ''हिन्दी में 'सेवा सदन' एक चमत्कार की तरह कौंध गया। हिन्दी पाठकों के हृदय में सोये हुए करूणा और वीरता के भाव जाग उठे। आलोचकों को भले ही देर लगी हो, साधारण पढने वालों ने पहचान लिया कि यह उनका अपना लेखक है।''[4] प्रेमचन्द जिस समाज मे पले, बढे और पढे उसी समाज की बात साहित्य के माध्यम से कह रहे थे। जिस व्यक्ति को भूख के कारण अपना गणित का प्रिय गाइड बेच देना पड़ा हो, वह अपने साहित्य में जीवन का सच नहीं लिखेगा तो और क्या लिखेगा ? उनके सारे उपन्यासों और सारी कहानियों में तत्कालीन जीवन का सच है, भविष्य के लिए समाधान है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो साहित्य पौराणिक गाथाओं के नायकों के महिमामंडन और पुराने रिवाजों को साहित्य में पुनर्जीवित करने के प्रयत्नों से भरा पड़ा हो, उसे प्रेमचन्द की लेखनी ने अचानक से जीवन की वास्तविकताओं से लैस कर दिया। किसान–मजदूर, अनपढ–शिक्षित, दरिद्र–महादरिद्र सभी साहित्य में स्थान पाने लगे। यह जीवन में कैसी गहरी भोगी हुई पीड़ा से उत्पन्न अनुभूतियां थीं, जो तुलसीदास के बाद तीन–चार सदियों की यात्रा करती हुई प्रेमचन्द की ही अंतःस्थली में प्रकट हुई। जीवन की विवशता से उत्पन्न टीस को कवितावली में महसूस कीजिए–

उंचे नीचे करम धरम अधरम करी,

पेट ही को पचत बेचत बेटा–बेटकी

तुलसी बुझाई एक राम घनस्यामही तें,

आगि बड़वागितें बड़ी है आग पेट की।[5]

लगभग वही विवशता कुछ न कर पाने की टीस गोदान में होरी के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है–

''आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है, और ऐसा परास्त हुआ कि मानो उसे नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है, और जो आता है उसके मुंह पर थूक देता है।'' सामाजिक असमानता से उत्पन्न हुई परिस्थिति में व्यक्ति की विवशता का ऐसा चित्रण विश्व साहित्य में दुर्लभ है।[6]

प्रेमचन्द की लगभग हर रचना में समाज का नग्न यथार्थ इसी प्रकार बिना किसी लाग–लपेट के चित्रित हुआ है। उस अंग्रेजी काल में सुविधाभोगी वर्ग किस प्रकार समाज के हाशिये पर पड़े लोगों की चीत्कारों से बेखबर अपनी विलासिता में मस्त थे, इसका वर्णन प्रेमचन्द की कहानी 'समर यात्रा' में खंजरी बजाने वाले लड़के की व्यंग्योक्ति में अभिव्यक्त हुआ है–

''बड़े आदमी क्यों जुलूस में आने लगे, उन्हें इस राज में कौन सा आराम नहीं है। मर तो हमलोग रहे हैं। जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस बखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफोन लिए गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहां आए पुलिस के कोड़े खाने, तुमने भी खूब कही।''[7] प्रेमचन्द साहित्य की जिम्मेवारियों से वाकीफ थे और उस युग के सन्दर्भ में साहित्य की भूमिका के निर्धारण के प्रति सचेत भी। वह यह समझते थे कि गुलामी के दंश के साथ मृत हो रहे भारत में ऐयाशी से भरे दरबारी साहित्य और रसिक–लीला वर्णन किस कदर एक विशाल क्षेत्र की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना को नष्ट कर रही है। एक जगह वह लिखते हैं– ''जो लोग दुनिया को अपनी मुठ्ठी में बंद किए हैं, उन्हें दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है, पर जहां फांका है, नग्नता है और पराधीनता है, वहां का साहित्यकार यदि नंगी कामुकता और निर्लज्ज रति–वर्णन पर मुग्ध है तो इसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित पूरा नहीं हुआ और शायद दो–चार सदियों तक उसे गुलामी में और बसर करनी होगी।''[8]

लगभग सभी समस्याओं की जड़ में आर्थिक विषमता है। सच्चे साहित्यकार की नजर उस पर निश्चित तौर पर टिकी होनी चाहिए। सबसे खराब बात तो यह है कि गरीबों के खून–पसीने के दम पर बड़ा बना उच्च वर्ग इतना संवेदनहीन हो चुका है कि बिना किसी भीषण कांति के सामाजिक समानता एक स्वप्न ही है। प्रेमचन्द लिखते हैं– ''बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, कोई

रू–रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि वह केवल अपने मालिक के लिए पसीना बहाये, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।''[9]

दलितों शोषितों, वंचितों के जीवन के कटू यथार्थ का जैसा सशक्त चित्रण प्रेमचन्द की रचनाओं में हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनाओ में ऐसी जीवंतता है मानो प्रेमचंद ने स्वयं उसे भुगता हो। पर ऐसी क्या वजह है कि आलाचकों की नजर में प्रेमचन्द, कुछ रचनाओं को छोड़कर आदर्शवादी हो जाते हैं। ज्यादातर प्रगतिवादी समीक्षक उन पर यह आरोप लगाते रहे हैं कि गोदान से पहले की ज्यादातर रचनाओं में प्रेमचन्द ने समस्याओं के समाधान के लिए कल्पना का सहारा लिया है। कुछ विद्वान आलोचकों का मानना है कि उनके उपन्यासों एवं कहानियों में समाज का यथार्थ अवश्य अपनी वास्तविक तीव्रता के साथ उपस्थित है परन्तु समस्या के समाधान के चित्रण में वे काल्पनिक आदर्श स्थितियां उपस्थित कर कहानी को कमजोर बना देते हैं। इन प्रगतिवादी आलोचकों की नजर में समाज कभी आदर्श स्थिति को प्राप्त नहीं करता और साहित्य में इसकी उपस्थिति महज कल्पना है। इस प्रकार प्रेमचन्द के साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की पुष्टि की गयी है। कुछ विद्वानों का कहना था कि प्रेमचन्द जिस युग में लिख रहे थे वह गांधी का युग था। मतलब गांधी के कार्यों एवं विचारों से प्रभावित युग था। गांधी सत्याग्रह के द्वारा विदेशी ताकतों को सही राह एवं सही व्यवस्था की तरफ लाना चाहते थे। व्यक्ति के भीतर की मनुष्यता एवं सहृदयता को जगाकर सारी समस्याओं को हल करना चाहते थे। एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना जिसमें छोटे–बड़े, अमीर–गरीब, शोषक–शोषित मनुष्यता की करूण पुकार से जगकर एक–दूसरे के प्रति सहृदय और उपकारी हो जाएं। समाज चूकि गांधी के प्रयोगों से प्रभावित था अतः साहित्य पर भी उसी मनोभूमि का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। डॉ विजयदेव नारायण साही लिखते हैं–''सत्याग्रह युग विराट नाटकीयता का युग है। उस युग के बारे में पढकर ही हम रोमांचित होने लगते हैं फिर उस युग में जिन्दा होना और उसकी लय को महसूस करना स्वर्ग में रहने के बराबर ही रहा होगा.....यह नाटकीयता सिर्फ छायावादी काव्य ही नहीं, प्रसाद और प्रेमचन्द के आसपास के गद्य को भी सम्पन्न करती हुई चलती है।''[10] डॉ साही की बातों से यह स्पष्ट है कि गांधी के प्रयोग सामान्य जनता को वास्तविकता की जमीन से हटाकर कल्पना लोक की भूमि पर खड़ा कर देते हैं। आगे वे लिखते हैं– ''कहा गया है कि छायावाद ने यथार्थ का तिरस्कार करके हवाई या स्वप्नदर्शी उड़ान में निकल भागना चाहा। इसको पलायनवादी दृष्टि भी कहा गया है। इस ढंग से कवियों की तुलना में प्रेमचन्द को यथार्थवादी या यथार्थ के निकट कहा गया है।

वस्तुतः प्रेमचन्द, प्रसाद और दूसरे छायावादी कवि समान मनोभूमि पर स्थित हैं। इनके वर्ण्य विषय अलग–अलग हैं और होना स्वाभाविक भी है।''[11]

डॉ साही प्रेमचन्द को प्रसाद और अन्य छायावादी कवियों के साथ समान मनोभूमि पर पाते हैं। चूंकि प्रेमचन्द अपने कई उपन्यासों यथा–सेवा सदन, प्रेमाश्रम, गबन एवं कई कहानियों में मनुष्य के भीतर की अच्छाई, सहृदयता, मनुष्यता आदि भावों के उद्रेक की सहायता से समस्या के समाधान का बड़ा यथार्थपरक चित्रण करते हैं। यही बात डॉ साही एवं अन्य प्रगतिवादी आलोचकों को पचती नहीं है। उनके अनुसार वास्तविक जीवन में ऐसा कुछ घटित होता ही नहीं है, और इस लिहाज से प्रेमचन्द का लेखन पूर्णतः यथार्थवादी न होकर आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हो जाता है। इसी आलेख में डॉ साही आगे कहते हैं–''वे यथार्थ का तिरस्कार नहीं करते, यथार्थ के प्रति उनकी एक दृष्टि है। वे यथार्थ को मूलतः अपरिभाषित, निर्माणातुर, अविरोधी, कच्ची और गीली मिट्टी की तरह देखते हैं। जिस पर आदर्श की कोई मुहर लगायी जा सकती है।'' आगे वे लिखते हैं– '' जिस तरह अन्तर्जगत का सत्य बिल्कुल अपने हाथ का है, जिसे हम जिस स्वप्न के आकार का चाहें गढ सकते है, उसी तरह बहिर्जगत का सत्य भी है। एक ही जादू दोनों को ही मन–मुताबिक गढता चलता है। संक्षेप में कटू यथार्थ, कठोर यथार्थ ऐसा यथार्थ जिसके आगे हमें अपनी इच्छाओं को दबाना पड़े या जो हमारे आंतरिक सत्य के आगे अभेद्य अड़चन सा बनकर खड़ा हो जाए, जिससे हमें समझौता करना पड़े– इस तरह के यथार्थ की कल्पना न छायावादी काव्य में है, न आरंभिक प्रेमचन्द में ही है। या है भी तो बहुत गौण।''[12] डॉ साही के कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द अपने साहित्य में यथार्थ को कच्चा माल की तरह 'ट्रीट' करते हैं ताकि उस पर आदर्श की मनमाफिक मुहर लगाई जा सके। साथ ही ऐसे किसी भी कठोर यथार्थ को 'अव्योइड' करते हैं जो उनकी चिंतनधारा की प्रगति में अड़चन बनकर खड़ा हो जाय। डॉ साही उस भयानक यथार्थ की चर्चा कर रहे हैं जिसके आगे सारी कल्पनाएं धराशायी हो जाती हैं। वैसा यथार्थ जिसके बारे में सोचकर ही कल्पनाजीवी बोरिया–बिस्तर समेटकर दूसरी दुनिया में कूच करने की तैयारी शुरू कर दें। डॉ साही हालांकि प्रेमचन्द की शुरूआती दौर की रचनाओं में इस तरह का 'कॉम्प्रोमाइज' देखते हैं। रंगभूमि और गोदान में इन आलोचकों के हिसाब से प्रेमचन्द इस मनोविलास से बाहर निकल चुके थे।

पर क्या प्रेमचन्द यथार्थ का चित्रण करते– करते वास्तव में 'डेवियेट' होकर कल्पनाएं गढने लगे हैं ? क्या वे सचमुच किसी खतरनाक यथार्थ का सामना करने से बचने के लिए यथार्थ का ढीला–ढाला प्लॉट तैयार करते थे

ताकि उस पर आदर्श की कोई मुहर लगाई जा सके ? क्या दया, करूणा, परोपकार, क्षमा, प्रायश्चित जैसे भाव समय–समय पर हमारे भीतर जगते नहीं हैं ? क्या सचमुच प्रेमचन्द की शुरूआती रचनाओं में यथार्थ को मनगढंत रूप देने का ऐसा कोई खेल रचा गया है ? आइए गबन और सेवा सदन में इस बात की परीक्षा करें। गबन मेंजब रमानाथ एक गहरी साजिश के तहत झूठ और फरेब करता है और निर्दोष दिनेश को फांसी की सजा हो जाती है, तो रमा की पत्नी जालपा भीतर से जल उठती है। दिनेश एक मामूली शिक्षक है, बहुत गरीब है, बड़ी मुश्किल से परिवार का भरण–पोषण करता है। जालपा भीतर से अत्यंत व्यथित है और पति की कायरता पर क्रुद्ध भी। शुरू मे यद्यपि जालपा में भी नारी–सुलभ कमजोरियां है। गहनों से उसे अत्यन्त प्रीति है। पर समय के साथ वह इन कमजोरियों को अपने व्यक्तित्व से हटाने में सफल हो जाती है। प्रेमचन्द नारी के जिस रूप को विकसित होते देखना चाहते थे वह जालपा है। गबन में जब रमानाथ अपनी दादी से पुलिस की सख्तियों की झूठी कहानियां कहता है ''तब जालपा बाज की तरह कूदकर धम्–धम् करती हुई नीचे आई और जहर से बुझे हुए नेत्र–बाणों से उस पर प्रहार करती हुई बोली–अगर तुम सख्तियों और धमकियों से इतना डर सकते हो तो तुम कायर हो। तुम्हें अपने को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहीं। क्या सख्तियां की थी ? जरा सुनुं।''[13] क्या यह यथार्थ स्थिति नहीं है ? क्या भारतीय नारी मनुष्यता की पुकार पर अपने पति के खिलाफ जा सकती है ? भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य हित एवं निर्दोष प्रजा की रक्षा के लिए नारियों ने अपने पतियों के माथे पर तिलक लगाकर क्रूर शक्तियों के खिलाफ संग्राम में भेजा है। कोई भी स्त्री कभी नहीं चाहती कि समाज उसके पति को कायर और बेइमान कहे। आ0 हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण से उद्धृत 'भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु',लज्जेजंतु वयस्सयहु जइ भग्गा घरू एंतु'[14] (अच्छा हुआ जो मेरा पति युद्ध में मारा गया, यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी सहेलियों के सम्मुख लज्जित होती) इस संदर्भ में काफी लोकप्रिय रहा है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य के भीतर स्थित भाव जैसे– मनुष्यता, सहृदयता वीरता, प्रायश्चित आदि जो व्यक्ति के अंतःकरण में स्थित रहते हैं, उत्प्रेरक माहौल में करूणा, श्रद्धा, आवेश, प्रेम आदि मनोविकारों का साथ पाकर सकिय हो उठते हैं और एक विराट यथार्थ के निर्माण में सहायक हो जाते हैं। अब इस पर कहना कि सहृदयता, परोपकार, हृदयपरिवर्तन जैसी स्थितियां महज कल्पना हैं और साहित्य में इनका उपयोग केवल नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए किया जाता है, उचित नहीं जान पड़ता।

अब यथार्थ और आदर्श के मूल बिन्दु पर लौटते हैं। यथार्थ और आदर्श को दो अलग–अलग स्थितियां माना गया है। यथार्थ स्थिति वह है जिससे समाज गुजरता रहता है। यह कटु अथवा मधु दोनों हो सकती है। समाज के ही किसी वर्ग के लिए कटु तो किसी के लिए मधु। पर आदर्श स्थिति वह है जिसे हम प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। वैसी स्थिति जिसमें सभी को आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक सन्तोष प्राप्त हो। दुनिया के अधिकतर प्रगतिशील विचारकों का मत है कि समाज कभी आदर्श स्थिति को प्राप्त नहीं करता है। आदर्श समाज जिसमें सभी सुखी हों एक प्रकार की कल्पना है, 'यूटोपिया' है। पर यदि इसी बिन्दू पर थोड़ी और गहराई से विचार किया जाय तो हम पाएंगे कि समाज यथार्थ से हमेशा आदर्श की ओर बढता है और आदर्श से फिर यथार्थ में प्रवेश कर जाता है। मतलब यह कि आदर्श यथार्थ से अलग कोई चीज नहीं है, बल्कि इसे महत्तम यथार्थ (GreaterTruth) के रूप में समझा जा सकता है। मान लीजिए हम राजतन्त्र की कठोर परिस्थितियों के बीच जी रहे हैं। हमारा राजा एक अविवेकी तानाशाह है। उस कष्टप्रद परिस्थिति में हम लोकतन्त्र का स्वप्न देखते हैं। लोकतन्त्र जीने के लिए सभी प्रकार के लोगों के लिए एक आदर्श स्थिति है। पर क्या इस स्थिति को कल्पना कहकर टाला जा सकता है ? जी नहीं, इस स्थिति को प्राप्त किया जाता है। हम भीतर और बाहर दोनों स्तर पर संघर्ष के द्वारा लोकतंत्र को प्राप्त करते हैं। क्या यह आदर्श स्थिति की प्राप्ति नहीं है ? अवश्य है, पर सामाजिक परिवर्तनों के कारण अस्तित्वमान तंत्र फिर बदलाव की अपेक्षा करने लगता है, आदर्श के मानक बदल जाते हैं और हम फिर नयी आदर्श स्थिति की कल्पना करने लगते हैं।

'सेवा सदन' की सुमन का जीवन बेमेल विवाह के कारण तबाह हो जाता है। स्थिति यहां तक पहुंच जाती है कि वह घर के त्रासद और कष्टप्रद विरोधाभासों की बंद चारदीवारी से भागकर वेश्यालय पहुंच जाती है। हालांकि सुमन यहां की घृणित सच्चाई से रूबरू होनेके बाद इस माहौल से भी नफरत करने लगती है, पर जब विट्ठलदास सुमन को वहां देखकर यह कहकर व्यंग्य करते हैं कि 'घर का आदर छोड़कर इस नरक में कैसे आ गई ?' इस पर सुमन सदियों से असहाय, पराधीन, विवश नारी की तरह नजरें नहीं झुका लेती है बल्कि पलटकर जवाब देकर विट्ठलदास को निरूत्तर कर देती है–

'' सुमन ने बात काटकर कहा, महाशय यह आप क्या कहते हैं ? मेरा तो यह अनुभव है जितना आदर मेरा अब हो रहा है, उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकरद्वारे में झूला देखने गई थी। सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही, किसी ने भीतर न जाने दिया। कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ

तो ऐसा जान पड़ता था, मानो मेरे चरणों से वह मंदिर पवित्र हो गया।''[15] सुमन के द्वारा कहलाया गया एक–एक शब्द नारी के स्वतंत्र अस्तित्व का डंका बजा रहा है। सदियों पुरानी कुप्रथाओं को उसकी औकात बता रहा है। प्रेमचन्द के शब्दों ने वेश्यालय में बेबस पड़ी नारी को अंतर्राष्ट्रीय सम्मान का हकदार बना दिया है। नारी चाहे घर में हो, मंदिर में हो या फिर कोठे पर, आजादी उसके जीवन का अभीष्ट है। उसकी सबसे बड़ी चाहत हैं। जिसके लिए वह सदियों से संघर्ष कर रही है। इस चाहत को किसी भी स्तर पर प्राप्त कर लेना एक विराट यथार्थ को जीवन में उतार लेना है।

'निर्मला' उपन्यास बेमेल विवाह से उपजे सन्देह के कारण बरबाद हुए घर की कहानी है। निर्मला का पति एक अधेड़ व्यक्ति है। उसे हमेशा इस बात का सन्देह रहता है कि कहीं कम उम्र की निर्मला पर उसकी पहली पत्नी का पुत्र आसक्त न हो जाय और उससे असंतुष्ट निर्मला भी इस कुकृत्य में साथ न दे दे। इस कारण वह अपने पुत्र को शुरू में निर्मला से दूर–दूर रखने की कोशिश करता है पर स्थायी समाधान के लिए उसे बाहर किसी सस्ते हॉस्टल में पढने भेज देता है। वहां उस लड़के को टीबी हो जाता है और अपने अंत की ओर बढने लगता है। इस हालत में भी उसका पिता निर्मला को उससे मिलने नहीं देता है। पर निर्मला बिना बताए वहां पहुंच जाती है। लड़का निर्मला को वहां देखकर इस तरह भावुक हो जाता है मानो अंत समय में अपनी मां से मिल रहा हो। सजल नैनों से अपनी विमाता को कहता है–''अम्मा जी, इस अभागे के लिए व्यर्थ आपको इतना कष्ट हुआ। मैं आपका स्नेह कभी न भूलूंगा। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मेरा पुनर्जन्म आपके गर्भ से हो।''[16] यहां यह कहा जा सकता है कि विमाता और पुत्र के संबंधों का ऐसा चित्रण शुद्ध कल्पना है, परम आदर्श का सृजन है। पर क्या ऐसा होना असंभव है ? कतई नही ंहम अपने भीतर की अच्छाई के दम पर ही आज सभ्यता को नई उंचाइयों पर ले आए हैं। साहित्यकार का यह सतत प्रयत्न होना चाहिए कि वह समाज में विराट यथार्थ की स्थापना में सहयोग करे। इस संबंध में प्रेमचंद कहते हैं–''साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है–उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली इकाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाते हुए चलने वाली सचाई है।''[17]

डॉ रामबिलास शर्मा लिखते हैं–''प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जो संघर्ष, स्वाधीनता आंदोलन के जो रूप दिखाए, वे सब हमारे सामने आए। यह इस बात का सबूत है कि वह देशभक्ति और राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई

चलने वाली सच्चाई थे।''[18] प्रेमचन्द साहित्य की उपयोगिता का सवाल उठाते हैं। कहते हैं–''जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में सन्देह किया जाता है।''[19] डॉ शर्मा कहते हैं–''प्रेमचन्द यह नहीं मानते हैं कि मनुष्य का स्वभाव बदल नहीं सकता। स्वभाव बदलता है और साहित्य उसे बदलने का साधन है।''[20] 'सुभागी' कहानी की विधवा पिता के घर जाकर रहती है पर वहां उसके भाई–भौजाइयों से उसकी नहीं पटती।पिता के साथ वह खेती के काम में हाथ बंटाती है, उसका कर्ज भी चुका देती है। उसे कमाते देखकर कुछ लोग उससे विवाह की इच्छा प्रकट करते हैं और अंत में वह विवाह भी कर लेती है। विधवा–विवाह की समस्या का ऐसा समाधान बहुत कम कहानियों में मिलेगा। इसी प्रकार 'घर–जमाई' का हरिधन अंत में विमाता के पास ही आता है। डॉ शर्मा लिखते हैं कि ''अक्सर वह दिखलाते हैं कि हृदय की भावनाएं बदलने से परिवार की समस्या हल हो गयी।''

यह बात साबित हो चुकी है कि जब तक हृदय से उदार नहीं होंगे, मनुष्यता का महत्व नहीं समझेंगे, किसी अमानवीय प्रथा का अंत नहीं कर पाएंगे। सती–प्रथा का करीब–करीब उन्मूलन हो गया, कारण कि हमारे भीतर की परिपक्व होती मनुष्यता ने उसे रिजेक्ट कर दिया। कानून और संविधान की बंदिशों के बावजूद आज भी छुआछूत किसी न किसी रूप में कायम है। कारण कि हमारे भीतर की मनुष्यता और उदारता इस जातीय शुचितासे उपजे अहंकार के आगे टिक नहीं पा रही है। 2019 में तीन तलाक से संबंधित सुप्रीम कोर्ट के आदेश के आलोक में ऐतिहासिक निर्णय हुए। वर्तमान सरकार ने इस प्रकरण में अपनी पीठ खूब थपथपाई। अधिसंख्य विचारकों ने इसे सरकार से ज्यादा सुप्रीम कोर्ट की सफलता माना, उन संघर्षरत महिलाओं के संघर्ष की सराहना की जो कई वर्षों से न्यायके लिए लड़ाई लड़ रही थीं। पर यदि सूक्ष्मता से वस्तुस्थिति पर नजर डाली जाय तो पता चलता है कि समस्त मुस्लिम समाज भी इस निर्णय के साथ खड़ा रहा। सुप्रीम कोर्ट के फैसले के साथ ही मुस्लिम समाज ने भी इसे अपने समाज की प्रचलित बुराई के रूप में स्वीकार किया। इसके खिलाफ कोई आंदोलन नहीं हुआ। आधुनिक विज्ञान की तरक्की और पूरे संसार में लैंगिक समानता के लिए किए जा रहे प्रयासों का असर मुस्लिम समाज पर पड़ा और अंतःकरण की उदारता के आगे भीतर का अहंकार हार गया। यही कारण है कि 35 साल पहले शाहबानो केस में सुप्रीम कोर्ट के इसी निर्णय को लोगों के दवाब के आगे पलट दिया गया था।

हमारे विद्वान आलोचक जिस तरह से प्रेमचंद के साहित्य के विभिन्न प्रसंगों में से किसी को यथार्थ तो किसी को महज कल्पना कहने लगते हैं, लगता है उन्होंने अपने आलोचना धर्म के निर्वाह के लिये यथार्थ का एक 'फिक्स्ड' मानक

तैयार कर लिया है। उसमें यदि कोई रचना फिट बैठी तो यथार्थ नही ंतो कल्पना। यदि 'प्रेमाश्रम' के बलराज के भीतर उठने वाले प्रतिहिंसा के भाव को यथार्थ कहा जा सकता है और 'रंगभूमि' के सूरदास की जिद अस्वाभाविक नहीं लगती तो सुमन, जालपा, हरिधन और सुभागी के चरित्र भी पूरी तरह स्वाभाविक है, पूरा यथार्थ है। यदि हजारों वर्षों से हिंसा और दासता सहकर उसके अभ्यस्त हो जाने वाले शोषितों के भीतर आकोश और प्रतिहिंसा का जगना यथार्थ हो सकता है तो अन्य स्थलों पर हृदय–परिवर्तन की घटना यथार्थ क्यों नहीं ? यहां यह बताना प्रासंगिक होगा कि उपन्यास अथवा कहानी की जो बातें आलोचकों को कमजोर कड़ी के रूप में दिखाई देती हैं, हो सकता है वह पाठक मे अपूर्व सन्तोष का प्रसार करती हो। अब लेखक आलोचकों के लिए कहानियां लिखता तो नहीं है न ?

साहित्य जब यथार्थ से आदर्श की ओर बढता है तो वह काल्पनिक नहीं हो जाता है बल्कि एक विराट यथार्थ से समाज को परिचित कराता है और उसे जीवन में उतारने के लिए प्रेरित करता है। सच्चा साहित्य हृदय के सच्चे अथवा अच्छेपन की महान शक्ति से परिचालित होता है। पूर्व और वर्तमान की असंख्य परिस्थितियों का ब्यौरा लेने के बाद उसे जीवन में आदर्श स्थिति के घटित होने की संभावना दीखने लगती है। इस प्रकार आदर्श महत्तम यथार्थ के रूप में प्रकट होता जाता है। गांधी के प्रयोग कोरी कल्पना और भावुकता की उपज न थे बल्कि उनका उद्देश्य भारतीय जनमानस को सामान्य यथार्थ की भूमि से विराट यथार्थ की भूमि पर 'सिफ्ट' करना था।

डॉ रामबिलास शर्मा कहते हैं–''किसी समय जब प्रेमचन्द के मनोहर, बलराज और कादिर का जीवन बदल जाएगा और लखनपुर वास्तव में एक सुखी गांव बनेगा तब मनोहर, बलराज और कादिर की संतान 'प्रेमाश्रम' पढेंगी और कहेंगी–हां हमारे पुरखे वीर थे, उन्होंने अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाया, वे अपना रक्त न बहाते तो यह गांव सुखी न होता। और यह सब कहते सोचते उनका हृदय प्रेमचन्द के प्रति कृतज्ञता से भर उठेगा।''[21]

## संदर्भः

1–शुक्ल, आ0, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0

2–पांडेय, मैनेजर, समाज, जनता और साहित्य का इतिहास, एमएचडी–6

3–मुक्तिबोध, गजानन माधव, काव्य की रचना प्रकिया–1,एमएचडी–5 पृ083

4–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग, पृ0

5–तुलसीदास, गोस्वामी, कवितावली, पृ0

6–प्रेमचन्द, गोदान, पृ0

7–प्रेमचन्द, समरयात्रा,

8–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0 154

9–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0 157

10–साही, विजयदेव नारायण, समालोचना से साक्षात्कार, एमएचडी 5 पृ0 97

11– साही, विजयदेव नारायण, समालोचना से साक्षात्कार, एमएचडी 5 पृ0 100

12– साही, विजयदेव नारायण, समालोचना से साक्षात्कार, एमएचडी 5 पृ0 100

13–प्रेमचन्द, गबन, पृ0 188

14–बाहरी, डॉ हरदेव, हिन्दी भाषा, पृ0 27

15–प्रेमचन्द, सेवासदन, पृ0 51

16–प्रेमचन्द, निर्मला, पृ0

17–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0178

18–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0

19–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0

20–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0

21–शर्मा, रामबिलास, प्रेमचन्द और उनका युग पृ0 58